UNIVERSAL LIBRARY
OU_180400
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.0 / A27C Accession No. G.H.195

Author अग्रवाल, चांदमल

Title चित्राङ्गदा । 1947

This book should be returned on or before the date last marked below

चित्राङ्गदा

[खण्ड-काव्य]

रचयिता

चांदमल अग्रवाल "चन्द्र"

विशारद, काव्य-मनीषी

है उपस्थित मान-रक्षा-प्रश्न टेढ़ा अत्यधिक।
पूज्य यद्यपि हैं पिता, पर मातृ-गौरव है अधिक॥

प्रकाशक

'दीदी' कार्य्यालय

इलाहाबाद

प्रथमबार] १९४७ [मूल्य ॥।)

मुद्रक—दीदी प्रेस, इलाहाबाद

मां !

छुटपन में मां ! रहा सताता,
लेने देता तुझे न चैन।
धुँधली स्मृति वह मुझे आज भी,
करती रहती है बेचैन ॥

क्रोध न कर पर सींचा तू ने,
स्नेह-अमिय ही, है मम शक्ति !
अर्पित पुनीत चरणों में तव,
भक्ति-सहित यह 'मां की भक्ति' ॥

एक तेरा ही
चाँद

चित्राङ्गदा के विषय में

सृष्टि के उषःकाल में जब मानव ने पहली बार नेत्रोन्मीलन किया तो उसके हृदय का अनेक अपरिचित रूप-व्यापारों की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। अपरिचय ने जहाँ आकर्षण में तीव्रता उत्पन्न की वहाँ कौतुहल और आश्चर्य को भी जन्म दिया। इन तीनों ने मिल कर सम्भवतः उसके नैसर्गिक अहं की अतिरिक्त अनुभूति को प्रकाश में आने से रोक दिया, उसे अव्यक्त ही रहने दिया। फिर भी परिचय के साथ मानव की सामाजिक भावना का उदय हुआ। इस परिचय की सीमा जब तक लघु थी तब तक नदी, सर, तृण, वीरूध, वृक्ष चाँद, तारे सभी उसके परिवार के अङ्ग रहे और फिर जैसे जैसे सीमा विस्तार हुआ पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े उस परिवार में दीक्षित हुये। कालान्त मे पुराने साथियों के प्रति विरक्ति और नवीनों के प्रति अधिकाधिक अनुरक्ति बढ़ती गई। परिणाम स्वरूप मानव मानव के बीच ही देश, जाति, धर्म और वर्ग आदि की अनेक सीमा-रेखाएँ खिंचने लगीं। सभ्यता वादी सम्भवतः मानव के उस प्रथम रूप में शैशव या अल्हड़पन देखें और इस अन्तिम रूप में शक्ति सम्पन्न उद्दाम यौवन; एक को मनोरञ्जन की वस्तु कह दें और द्वितीय को मैत्री की, किन्तु दृष्टि यदि वर्तमान से इधर उधर डुलने की क्षमता रखती होती तो देखती कि शक्त और अशक्त में कौन भव्य है कौन अभव्य; कौन अन्धकार का आवाहन करता है और कौन ज्योति-स्पुञ्ज छिटकाता है।

तो उस आदि मानव के अहं की शुद्ध अहं के रूप में अनुभूति बहुत कुछ अव्यक्त ही रही। नवीन के आकर्षण ने बहुत समय तक उसे अपनी ओर झाँकने का अवकाश ही न दिया। ऋग्वेद की आदि ऋचाओं में उसका चिन्तन बहुत कुछ 'बहिर्गत' के विषय में मिलता है। भले ही 'बहिर्गत' उसके सम्मुख बहुत कुछ उपभोग्य के रूप में प्रकट हुआ हो, शुद्ध स्वतन्त्र-सुन्दर के रूप में नहीं। फिर भी अहं का स्थान प्रायः 'वयं' ने लिया है। कभी-कभी दृष्टि 'आवां' और 'नौ' तक अवश्य रही किन्तु उनके भीतर भी 'वयं' छिप कर बैठा ही रहा। 'पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतं' 'समानीव आकूतिः समाना हृदयानिवः', 'शन्नो देवीरभीष्टये', 'सहनाववतु सहनौभुनक्तु' आदि ऋचायें इसकी साक्षिणी हैं। वाल्मीकीय रामायण तक यह 'स्व' से उपरति—स्वयं सिद्ध उपरति, उपदेश के रूप में बाहर से ठूँसी हुई नहीं—स्थिर रही। आगे चल कर महाभारत युग में जो बड़ा परिवर्तन हुआ, वह है मानव का 'पर' को छोड़ 'स्व' के प्रति आकर्षण, और परिणाम हम उसी ग्रन्थ में देखते हैं—विषएण अवसान। रक्तपात उभयत्र है पर प्रथम की परिणति हुई शान्ति में और द्वितीय की ग्लानि में। दोनों काव्यों की कला पर भी मानव के इस चिन्तन-विपर्यास का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है।

महाभारत के बाद भी मानव इस 'स्वोपासना' से पराङ्मुख न हो सका; उदासीन तक न हो पाया यद्यपि उसका दम्भ उसने अनेक बार किया है। परिणाम इस काल्पनिक विरक्ति का अनुरक्ति से भी बुरा हुआ। यों स्वानुरक्ति स्वतः बुरी नहीं—कलाकार के लिये तो वह एक सीमा तक उपास्य है—किन्तु उसका साध्य बन जाना अनेक अनर्थों की सृष्टि करता है। दुःखद यह कि जिसे आज हम सभ्यता कहते हैं वह इस स्वरति के

चारों ओर चक्कर लगाने के लिये तो प्रेरणा देती है (स्वरति शब्द का प्रयोग मैं यहाँ फ्रायड के वैज्ञानिक अर्थ में नहीं कर रहा हूँ) किन्तु कोई केन्द्र बिन्दु नहीं निर्धारित करती, जहाँ क्षण भर विश्राम लिया जा सके, सन्तोष प्राप्त किया जा सके।

आज सभ्यता पूर्ण यौवन पर है पर मानवता रुग्ण। इसीलिये कलाकार के साधना-प्रवाह के ऊपर भी उसका अहं इतने स्थूल रूप में तैरने लगा है कि उसे किसी भी कोण से स्पष्ट देखा जा सकता है। आज के स्वपरक मुक्तक गीत इस बात के निदर्शन हैं कि कलाकार अहं के विस्तार को अत्यन्त व्याकुल है। अन्तर को बहिर्गत करने की जितनी उसमें आकुलता है उतनी बहिर्गत को अन्तरस्थ करने की नहीं। यह है हमारे साहित्य में प्रबन्ध-काव्यों के अभाव का एक कारण। जो कवि किसी प्रकार इस धारा को सूखने से बचाने का प्रयत्न कर रहे हैं उनमें भी पुरातन से निकल कर नवीन को आत्मसात् करने की क्षमता, और आगे बढ़ कर नवीन के निर्माण की क्षमता कम है। फिर कथा-काव्य जिस धैर्य की माँग करता है उसे देने की शक्ति भी इस प्रकाशनाकुल क्षण परिवर्तन शील युग में सरलता से कैसे मिल सकती है?

प्रबन्ध-काव्य कार की एक और मजबूरी है। वह स्वयं कुछ नहीं कह सकता। निर्माता होने पर भी उसे अपने काव्य में बैठने का बहुत कम अवकाश मिल पाता है। उसका हृदय कभी-कभी ही किसी पात्र की वाणी में झाँकने पाता है सो भी न झाँके तो और अच्छा। अन्यथा पात्र कोरे मृत्पिण्ड बन कर रह जाते हैं; प्राण उनमें नहीं प्रतिष्ठित हो पाते। गीतिकार को आत्माभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। दूसरी ओर प्रबन्ध-काव्य को पंक्ति पंक्ति में रस और रसाभाव का लेखा जोखा नहीं

रखना होता। कुछ पंक्तियों की सरसता संपूर्ण सन्दर्भ को सरस बना देती है।

हिन्दी के प्रबन्ध-काव्य कथावस्तु की दृष्टि से आज भी वहीं है जहाँ वे तेरहवीं शताब्दी में थे। सच कहा जाय तो उन प्राचीन आख्यानक काव्यों के पात्र अधिक सजीव, अधिक प्राणवान हैं। नाटक और उपन्यास के समान हमारे प्रबन्ध-काव्य आज तक 'उत्पाद्य' कथावस्तु को नहीं अपना पाये हैं, यद्यपि नाटकीयत्व को अब वे आवश्यक मानने लगे हैं। कल्पित कथावस्तु सम्भव है, आरम्भ में पाठक को अजनबी भी जान पड़े फिर भी अन्य क्षेत्रों के समान इधर भी प्रयोग की आवश्यकता है।

प्रस्तुत खण्ड-काव्य 'चित्राङ्गदा' श्री 'चन्द्र' जी का प्रथम प्रबन्ध-काव्य है जिसका कथानक पौराणिक इतिहास से लिया गया है। विश्व कवि रवीन्द्रनाथ की एक कृति भी हिन्दी में इसी नाम से अनूदित हो चुकी है किन्तु कथावस्तु के आधार के अतिरिक्त अन्य कोई सादृश्य इन दोनों में नहीं है। रवि बाबू की 'चित्राङ्गदा' में नारीसमस्या के सुलझाने का प्रयास है, वहाँ लक्ष्य काव्य नहीं। वह साधन मात्र है। प्रस्तुत काव्य किसी समस्या या मुख्य उद्देश्य को लेकर नहीं, काव्य के लिये ही लिखा गया जान पड़ता है। शैली श्री मैथिली बाबू का अनुगमन किये है। कथानक में कवि ने अधिकार-प्राप्त स्वतन्त्रता का उचित उपयोग यत्र-तत्र किया है, भले ही उसमें चमत्कार नहीं उत्पन्न किया। साथ ही कवि ने काव्य-प्रवाह के मार्ग में आने वाले सुरम्य स्थलों पर विराम भी लिये हैं। ऐसे स्थलों पर कवि यद्यपि परम्परा मुक्त पद्धति को ही लेकर चला है तथापि उस पर अन्य किसी की छाप नहीं है। इसी प्रकार वाच-

बीच में और भी ऐसे अनेक सन्धिस्थल आये हैं जहाँ कथाभार-श्रान्त हृदय ठहर ठहर कर कुछ क्षण बिश्राम ले सकता है।

हिन्दी भाषी प्रान्त से बहुत दूर, उर्दू के गढ़ में बैठ कर बिना किसी प्रोत्साहन के कवि ने जो यह साधना की ज्योति जलाई है, वह निश्चय ही उनके तथा हमारे लिये गौरव की वस्तु है। हो सकता है, आलोचक को 'चित्राङ्गदा' में युग प्रवृत्तियों की छाप न मिले किन्तु इसके भीतर से झाँकता हुआ एक उदीयमान, भावुक और चारों ओर देखकर चलने वाला कवि-हृदय अवश्य मिलेगा, यह मेरा विश्वास है। और मैं तो 'चित्राङ्गदा' में कवि के उज्वल भविष्य के दर्शन कर रहा हूँ।

आशा है, 'चित्राङ्गदा' काव्य-प्रेमियों का स्नेह प्राप्त करेगी।

भाद्रपद ३०, २००२
विद्या-मन्दिर
अकोला (बरार)

प्रभुदयालु अग्निहोत्री

पाथेय

रामायण की 'उर्मिला' महाभारत में 'चित्राङ्गदा' के रूप में अवतरित हुई। इस ओर भी किसी का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। महाभारत में विविध और व्यापक वर्णनों के साथ पांडवों की, खास कर अर्जुन की वीरता के विशद वर्णन हैं। द्रौपदी और अभिमन्यु के चरित भी अनेक कवियों द्वारा गाये गये हैं, परन्तु नाग कन्या उलूपी और नारी-गौरव चित्राङ्गदा तथा उन्हीं अर्जुन के वीर पुत्र बभ्रुवाहन पर—जो अभिमन्यु से किसी प्रकार कम नहीं था—किसी ने कलम नहीं उठाई। एकाध छोटी-सी गद्य-पुस्तक मात्र देखने को मिलती है। 'उर्मिला' की पार्श्वभूमि पर पूज्यवर गुप्त जी ने 'साकेत' की राज कुटिया खड़ी कर दी। काश, इससे प्रेरित होकर चित्राङ्गदा पर भी अन्य अधिकारी कुछ लिखते! अस्तु, जब तक अन्य कवि या स्वयं गुप्त जी इस पर काव्य रचना न करें लेखक यदि अपने यह 'तुतले बोल' परीक्षा रूप में उपस्थित करे तो क्या वह अनधिकृत माना जायगा?

नारी-जीवन बाह्य सौन्दर्य के साथ ही साथ आन्तरिक सौन्दर्य से भी ओत प्रोत रहता है। 'पुरुष' जहाँ अन्य बातों के साथ स्वार्थ का ध्यान रखता है वहाँ 'नारी' त्याग की प्रतीक-सी बन जाती है। अर्जुन के हृदय में एक ओर उलूपी की सुन्दरता का पार्थिव आकर्षण मात्र था तो दूसरी ओर नाग राज की सैन्य-सहायता का प्रलोभन भी, किन्तु उलूपी के हृदय में केवल स्नेहसात आत्म समर्पण के ही भाव उठते रहे। तिरस्कृत होने

पर भी, जिस पर वह एक बार अपना सर्वस्व न्योछावर कर चुकी है, उसी अर्जुन के लिये चित्राङ्गदा चिता का आलिंगन करने को उत्सुक हो उठती है। 'नारी' की महानता नापने का इससे बढ़कर और कौन सा साधन हो सकता है? भारत का नारी-वर्ग इसी बलिदान के कारण सदैव पूजनीय रहा है।

'चित्राङ्गदा' की ओर अग्रसर होने में प्रेरित करने वाली और भी एक पार्श्वभूमि है। बचपन ही से लेखक मातृ-सेवा से वंचित रहा है। इस अतृप्त चिर-कामना की पूर्ति के लिये ऐसे उपादान का आश्रय लेने की उत्कटता ही वह पार्श्वभूमि है। वीरता के साथ-साथ बभ्रुवाहन की मातृ-भक्ति भी कम आदर्शवान नहीं है। जिस कोख से ऐसा रत्न उद्भूत हुआ; उस माता चित्राङ्गदा और उसके मातृ-सेवक पुत्र के जीवन-गान के वर्णन से अपनी स्वर्गीय माता के श्री चरणों में श्रद्धा के फूल अर्पण करने का साहस यदि कवि करता है तो वह व्यष्टि निष्ठता का आरोपी नहीं हो सकता। इस तरह लेखक के दोनों हाथ लड्डू रहेंगे—साहित्य में अब तक के अछूते चरित्रों पर एक सूचक प्रयत्न व माँ भारती के चरणों में अपने हाथों बिने विकसित-अविकसित पुष्पों की माला तथा स्वर्गीया माता के श्री चरणों में श्रद्धांजलि!

अब कुछ विशेष प्रयोगों के विषय में। पुस्तक की भाषा खड़ी बोली तो है ही पर कहीं-कहीं प्रांतीय तथा एकाध स्थान पर अपभ्रंश शब्द भी आ गये हैं; किन्तु वे ऐसे हैं जो मधुर और कर्ण प्रिय ही हों। यथा—

(१) कछुक काल के बाद ही उन्हें,
इक हुआ इरावान पुत्र है।

इस प्रकार से 'चन्द्र' और भी,
दिन किनेक आमोद में गये ।
(प्रथम सर्ग)

(२) खिसका अञ्चल ठीक तरह सर पर सरकाती ।
सखियों सँग गृह ओर चली लजती सकुचाती ॥
(द्वितीय सर्ग)

(३) पांडु-सुतों ने द्रुपद सुता सह, तज सब माया ।
बन-बन तेरह बरस भटक हा ! कष्ट उठाया ॥

(४) देख लीजे नेक अब हम बालकों का खेल भी ।
(तृतीय सर्ग)

(५) अरे, अरे ! तुम रो पड़े, ढुलके आँसू तारे ।
रोव नहीं, सींचो अमिय, दुखिया-दुःख निहारे ॥
(चतुर्थ सर्ग)

और ऐसे शब्द कई विद्वानों की रचनाओं में व्यवहृत हैं हीं ।
उदाहरणार्थ---

(१) प्यारे जीवें प्रफुल्लित रहें औ' बनें भी उन्हीं के ।
धाई नाते बदन दिखला और बारेक जावें ॥
(प्रिय-प्रवास)

(२) कियत काल हुई यह भी क्रिया ।
(प्रिय-प्रवास)

(३) उस पर यक लता-बालिका को सुलाके ।
वह निज कर से थी लेप सीरे लगाती ॥
(प्रिय-प्रवास)

(४) जैसा कुछ हो सका, आपका यह आज्ञापालन है, लीजे।
भारत माता की सेवा में इसे आप ही अर्पित कीजे॥
(भारत भारती)

(५) एक धूर्त विस्मय की बातें करता था, गुरु बोले—"जाव,
बड़े चमत्कारी हो तुम तो अन्न छोड़ कर पत्थर खाव!"
(गुरुकुल)

इसी प्रकार पञ्चम सर्ग के छंद १३-१४ में 'भय' और 'विक्रम' के बजाय 'ग़म' और 'ख़मदम'—अन्य भाषा के शब्द होते हुये भी,—प्रसंगानुसार अधिक रुचिकर प्रतीत हुये; और छंद २५ में 'पिता' के अर्थ में श्रुतिमधुरता व गति के ख़याल से 'पितृ' के बजाय 'पितु' शब्द का प्रयोग किया गया है। तृतीय सर्ग में गीतिका छंद के चरणों का अन्त कहीं-कहीं 'र गण' या 'स गण' के बजाय 'न गण' में भी किया गया है। तथापि इससे गति में कोई शिथिलता नहीं आती, अपितु अधिक मधुरता आ जाती है। जैसे—

क्षुब्ध हत प्रभ-सा हुआ वह, सुन बचन यों अति निठुर।
बज्र गिरने से यथा रह जाय नव-पौधा ठिठुर॥

ऐसे प्रयोगादि लेखक को काव्य-द्रोही प्रतीत नहीं हुये, सौंदर्य-घातक नहीं दीख पड़े और वास्तविक तंत्र के विपरीत नहीं मालूम हुये, इसलिये उनकी अव्यापकता जान कर भी लेखक ने इस ओर निस्संकोच होकर कदम बढ़ाया है; जिसके लिये, आशा है, वह अपराधी नहीं ठहराया जायगा।

कथाभाग पौराणिक है अतः वह आज उतना युग-वान प्रतीत न हो, पर लेखक ने उसे युग के साथ रखने की भी इच्छा रखी इसलिये उसे चुना। मूल कथावस्तु की तत्कालीन वास्तविकता को कायम रखते हुये लेखक को यह करना पड़ा। यह सामंजस्य न तो युग-निरपेक्ष प्रतीत होगा और न कथावस्तु के प्रति द्रोहात्मक, यही आशा है।

बहुधा खण्ड-काव्य एक ही छंद में पाये जाते हैं, किन्तु इस छोटी सी पुस्तक में भिन्न-भिन्न छंदों का आश्रय लिया गया है। संस्कृत-वृत्त और हिन्दी छंद, तुकान्त और अतुकान्त—दोनों ही प्रकार हैं। परन्तु उसमें भी एक क्रम अवश्य रखा गया है। पाठकों को यह खिचड़ी रुचेगी भी या नहीं, लेखक नहीं कह सकता।

सर्व श्री सियारामशरण जी गुप्त, ठाकुर श्रीनाथसिंह जी, लक्ष्मीधर जी बाजपेयी, शान्तिप्रिय जी द्विवेदी, श्रीरामनाथ जी 'सुमन', प्रभुदयालु जी अग्निहोत्री, 'सत्यकाम', अम्बालालजी नागोरी व 'भारतीय' आदि ने उचित परामर्श व आशीर्वाद प्रदान कर जो लेखक की सहायता की है, उसके लिये वह इन महानुभावों का हृदय से आभारी है।

अपनी भूलों के लिये पुनः एक बार क्षमा-याचना करता हुआ।

चन्द्र-भवन छावनी,
औरङ्गाबाद (दक्षिण)
श्रीराम नवमी, २००३ वि०

विनीत
चाँदमल अग्रवाल 'चन्द्र'

चित्राङ्गदा

शुद्धि पत्र

पृष्ट	छन्द	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	१८	१	सङ्ग	के सँग
६	२४	२	हाय	हाथ
१७	३६	२	ललिमा	लालिमा
२३	१२	४	अश्व मेथ	अश्व-मेध
२६	३५	४	सिंह, श ावक	सिंह-शावक
३०	४०	२	अन्घा	अन्धा
३६	१६	३	मान	यान
३६	१७	१	शोपित	शोणित
४१	२६	२	दुर्भाग्थ-विप	दुभाग्य-विष
४५	४२	१	मुझे	तुझे
४६	४५	१	खींच	खींच

चित्राङ्गदा

प्रथम सर्ग

दोहा

(१)

जयति अम्ब अवलम्ब मम, वन्दूँ चरण अनूप।
'न हि मातुः पर दैवतम्', शक्ति-शारदा-रूप॥

रोला

(२)

करते खाण्डव-प्रस्थ—वास थे पाँचों नागर।
पाकर आधा राज्य, पांडु के वंश-उजागर॥
पालन करते नित्य, प्रजा का थे मन लाकर।
करते उनको सुखी, स्वयम् सर्वस्व चढ़ाकर॥

(३)

छठा-भाग कर-रूप, आय का बस थे लेते।
सेवायें सम्पूर्ण, उन्हें अर्पण कर देते॥
जनता-रक्षा-हेतु, राज्य बस वे करते थे।
शान्ति-अर्थ ही शस्त्र, ग्रहण कर में करते थे॥

(४)

अन्याय न था वहाँ, नहीं थी हिटलरशाही।
तानाशाही थी न, न तो थी नादिरशाही॥
चर्चिल शाही भी न, वहाँ थी जुल्म न करते।
फिर भी उनसे नित्य, शत्रुगण रहते डरते॥

(५)

धर्म-प्राण थी प्रजा, क्लेश का नाम नहीं था।
थे न लुटेरे चोर, नहीं छल-कपट कहीं था॥
न्यायालय की थी न जरूरत, कलह न होता।
प्रेम-भाव का सभी दिलों में बहता सोता॥

(६)

आतङ्क से न शान्ति, कभी स्थापित हो सकती।
नृप की सद्भावना, बीज सुख का बो सकती॥
शासक की थी नीति, नहीं शोषण की बिलकुल।
मानो सारा पाप, गया था पृथ्वी का धुल॥

(७)

सारांश, सभी सुखी थे, न थी कोई पीड़ा।
होती रही सदैव, वहाँ नन्दन-वन-क्रीड़ा॥

इससे कौरव-वृन्द, और था दिल में जलता।
शशि का होना मुदित, अमा के मन में खलता॥

(८)

देशाटन की हुई, प्रबल इच्छा अर्जुन को।
धर्मराज पर प्रगट, उन्होंने की निज धुन का॥
दी अनुमति सानन्द,—जायँ वे देश-भ्रमण को।
'होंगे इससे लाभ—कई,' सोचा कुछ क्षण को॥

(९)

"देश-भ्रमण-आनन्द, और ऋषियों के दर्शन।
भिन्न-भिन्न देशीय—नृपों से मैत्रि-उपार्जन॥
फिर इससे व्यवहार-ज्ञान भी और बढ़ेगा।
नया हमारा राज्य, और भी सुदृढ़ बनेगा"॥

(१०)

सरिता-शुचिता विपिन-गहनता सर-सुन्दरता।
गिरिवर-रमणीयता, व झरनों की मनहरता॥
लखते-लखते पहुँच गये अर्जुन गङ्गा-तट।
जमा हुआ था जहाँ, मनोहरता का जमघट॥

मालिनी वृत्त

(११)

कल-कल करती ही जा रही गङ्ग-धारा।
मगन मन किसी के प्रेम में विस्मृता-सी॥

स्व-धुन-हित न तो थी कष्ट देती किसी को।
पर-हित करने में भूल जाती व्यथा थी॥

(१२)

जल अमिय-सना है, सींचती पादपों को।
प्रमुदित हरियाली अङ्क में हो रही है॥
वसन हरित धारे, मोहिनी-कामिनी का—
धर कर द्युति आई रूप; मानो स्थिरा-सी॥

(१३)

अचल वट खड़ा है यों जटायें बढ़ाये।
तट पर जनु कोई ईश-ध्यानी तपस्वी॥
सुर-सरित सजाये चारु शृङ्गार सारा।
इस वट-मुनि को ही क्या चली है डिगाने॥

(१४)

सुमन तट खिले हैं शुभ्र, पीले, गुलाबी।
पट पर उतरे ज्यों बेल-बूटे-रँगीले॥
खग-विहग अनेकों कूजते-क्रीड़ते हैं।
प्रकृति तन सँवारे ज्यों उन्हीं के लिये ही॥

(१५)

कुरच, शुक, कलापी, केकिनी औ' कपोती।
मगन सकल ही हैं खेलने-कूदने में॥
अहह! लहलहाती वल्लरी औ' लताएँ।
लिपट-लिपट पातीं मोद है पादपों से॥

(१६)

सित—रजत, चमेली, कुन्द, सौदामिनी-सी।
स्फटिक-सम, उषा-सी, चन्द्र-सी, चन्द्रिका-सी॥
भगिरथ - सु - पताका, जाह्नवी - सोम - धारा।
मुदित कर सबों को यों बही जा रही है॥

रोला

(१७)

विचर रहे थे रुचिर—प्रकृति के यों प्राँगण में।
अनुपम तब उल्लास, उमड़ पड़ता था मन में॥
नूपुर-ध्वनि की मधुर, हुई अङ्कित तब रेखा।
टूटा जैसे ध्यान, स्वप्न अर्जुन ने देखा॥

(१८)

सखियों सङ्ग घूम रही थी कोई 'नारी'।
ज्यों शशि निकले, साथ तारिकाएँ हों सारी॥
समझे अर्जुन—छटा प्रकृति की ही यह छाई।
या धर रमणी-रूप, स्वयम् गङ्गा ही आई॥

(१९)

अर्जुन बने चकोर, निहारे अपलक 'शशि' को।
छबि वह अङ्कित करे—हृदय, लेकर मन-मसि को॥
यों वे हुए विमुग्ध, हृदय-वीणा सिहर उठी।
अपने पन की सुधि न रही, ऐसी लहर उठी॥

(२०)

उधर उलूपी नाग-सुता भी मुदित हुई है।
मन-मोहक वह रूप, निरख कर थकित हुई है॥
रोग एक हो, एक—कसक दोनों ओर जभी।
होने में फिर मेल, नहीं लगती देर कभी॥

(२१)

आँखों से सन्देश, तभी आँखों ने पाया।
दोनों ने है आँख—आँख में परिचय पाया॥
आँखों ही से रूप, हृदय-मन्दिर में आया।
आँखों की करतूत—गँवाया कुछ, कुछ पाया॥

(२२)

"पायेगा क्या हृदय ? कुमुद यह, देवि, कपोती।
बिना सुँघा यह फूल, अन-बिंधा हा ! यह मोती॥
नव-विकसित यह कुसुम, अछूता रे यह मणिवर।
उषा, तारिका, रूप-सुधा-मूरति मयि, शशधर !!

(२३)

"है फिर इस सम्बन्ध—सूत्र से और भलाई।
होगी रण में नाग-देश की सैन्य सहाई"॥
इस प्रकार था हाल, वहाँ अर्जुन के मन का।
और यहाँ था भाव, एक आत्म-समर्पण का !!

(२४)

निज-निज मन का हाल, कहा बातों-बातों में।
नहीं सके जा हाय, किन्तु 'वे' 'उन' हाथों में॥

वह—कर यों सम्बन्ध, कलङ्कित होती जग में।
निज गृह जल-यान से—गई, ले अर्जुन संग में॥

(२५)

अर्जुन का आगमन, सुना अहिपति ने जब ही।
स्वागत की की गई, व्यवस्था सारी तब ही॥
पा निज-दुहिता—कुमुद-अर्थ शशि—अर्जुन नरवर।
मुदित हुए अहिनाथ, खिल उठा हृदय-सरोवर॥

दोहा

(२६)

तब विवाह विधि-सह हुआ, छाया हर्ष अपार।
दम्पति-हित होने लगा, घर-घर मङ्गलचार॥

कनक मञ्जरी-वृत्त

(२७)

कछुक काल के बाद ही उन्हें,
इक हुआ इरावान पुत्र है।
इस प्रकार से 'चन्द्र' और भी—
दिन कितेक आमोद में गये॥

द्वितीय सर्ग

दोहा

(१)

अर्जुन को फिर से हुआ, देशाटन का ध्यान।
अतः बिदा अहिलोक से—लेकर, किया पयान॥

रोला

(२)

बिदा समय सुत इरावान केवल बालक था।
किन्तु उलूपी-हाल—विचित्र, हिय-विदारक था॥
इच्छा-आकुल हृदय रखे अति सँग जाने की।
पर जिह्वा चुप! शक्ति नहीं थी कह पाने की॥

(३)

बड़े-बड़े वे नेत्र, हुये जल युत और बड़े।
कुछ लख पाते थे न, अरे! वे चरणाब्ज गड़े॥
मोटी आँखें अश्रु-कणों से भर आई थीं।
अश्रु-कणों में उन्हीं, धनञ्जय-परछाईं थीं॥

(४)

किसी तरह दी बिदा, उन्हें धीरज धरना था।
क्योंकि अभी तो देश-भ्रमण 'नर' को करना था॥
एतदर्थं ले इरावान-मस्तक का चुम्बन।
चूम उलूपी-अधर, चले उदास अर्जुन बन॥

(५)

चलती बिरियाँ नाग-राज से सत्कार मिला।
मणि-मुक्ता रूप में, उन्हें था उपहार मिला॥
फिर 'अगस्त्य-वट' औ' 'वसिष्ठ-पर्वत' पर रमके।
अर्जुन मनहर 'तुङ्गनाथ' गिरि पर जा धमके॥

श्रृङ्गारिणी-वृत्त

(६)

तुङ्ग उत्तुङ्ग था भीम-सा ही खड़ा।
निम्न-भू-भाग का भाग्य-दाता बना॥
भाल ऊँचा किये हर्ष औ' दर्प से।
वो जताता सभी को स्व-ऐश्वर्य था॥

(७)

आप तीखे शरों को सहे सूर्य के।
किन्तु रक्षा करे भूमि—पादस्थ की॥
यों सिखाता नृपों को रहा हो मनो—
आश्रितों को सदा ही बचाया करें॥

(८)

शान्ति-दा सोम-से नीर-पूरे वहाँ।
चारु सोते अनकों दिखाते अहा !!
कल्पना सूझती यों,—बड़ों के हिये—
हों दया-अम्बु के स्रोत-पूरे सदा ॥

(९)

देख ऊँचा कभी अभ्र आते कई।
व्यर्थ हीं चाहते ठेस देना इसे ॥
किन्तु वे पानि-पानी विशालत्व से—
आप होते; बड़ों की बड़ाई यही !!

रोला

(१०)

सुन्दर-सफल-सफूल, अङ्क में वृक्षों को ले।
पवन-विजन को डुला, अमिय-सा जल में घोले ॥
किया अनोखा 'तुङ्गनाथ' ने ऐसा स्वागत।
गद्गद्, प्रमद, प्रमत्त, प्रसन्न हुये अति भारत ॥

(११)

सुख से दो दिन और बिता उस मनहर गिरिपर।
'निमि सारण्य' 'हिरण्य-बिन्दु' फिर जा, कुछ रह कर॥
'उत्पलिनी', 'कौशिकी', 'महा' आदि के किनारे।
चलते-चलते विष्णु, कलिङ्ग प्रदेश ;पधारे ॥

(१२)

वहाँ प्रशंसा लोग कई, मणिपुर की गाये।
कर 'महेन्द्र-गिरि' पार अतः मणिपुर वे आये॥
गये प्रात फिर एक वाटिका में हुलसाये।
शोभा निरख मनोज्ञ वहाँ की, अति हर्षाये॥

शृङ्गार-छन्द

(१३)

सुवर्ण मयी किरणें नभ बीच,
बनायीं ऊषा-पट रंगीन।
सजाने में यों उसके अङ्ग,
दिवाकर हुआ अरे लवलीन॥

(१४)

हिला पत्तों को मन्द समीर,
कराता उषा - आगमन - ज्ञान।
गुनगुना मधुप-मण्डली मञ्जु,
उसी का करने निकली गान॥

(१५)

सभी सुमनों के जाकर पास,
दिया भ्रमरों ने यह संवाद।
अहा! नव-जीवन पाकर पुष्प—
हँसे, अति हुआ उन्हें आल्हाद॥

(१६)

खबर यह जभी वाटिका बीच—
गई, है हुआ सभी को हर्ष—
खिलीं कलिकाएँ सहित उमङ्ग,
करे निज सौरभ दान सहर्ष ॥

(१७)

मुदित हो अति ही पुष्प गुलाब,
सुरभि निज लुटा रहा मन खोल ।
खुला कुबेर का मानों द्वार,
रहे याचक से अलिगण डोल ॥

(१८)

मोतिया मोती-सा ही शुभ्र,
रहा था पत्तों में से झाँक ।
मोगरा झूम रहा—हो मस्त,
सुरभि को मधुप रहे थे आँक ॥

(१९)

नवेली, शुचि, अलबेली, धौत,
चमेली धौली सारी धार ।
सहेली निज ऊषा सी पाय,
हर्ष से झूम उठी सुकुमार ॥

(२०)

अकेली चम्पा ही उस ओर,
खड़ी हा ! तपस्विनी-सी मौन।
यहाँ न गले भ्रमरों की दाल,
देवि ! तव करे न आदर कौन॥

(२१)

समय पा वासन्ती अनुरूप,
खिलखिला हँसती थी हर्षाय।
समुद जूही निज गन्ध लुटाय,
मालती तो फूली न समाय॥

(२२)

तितलियाँ थीं उस बेला मत्त,
लगा मेला बेला के पास।
दृश्य वह देख रहा निस्तब्ध,
कनेर खड़ा सविनोद, सहास॥

(२३)

शान्त था वौर सहित वह आम्र,
प्रभाती गाती कोकिल गीत।
शुकों का क्रीड़ा-स्थल था बिम्ब,
नीम करता था वायु पुनीत॥

(२४)

कई खग थे, पर सभी समोद,
मिला हो मानो उन्हें स्वराज।
सुन्दरी ऊषा आई मत्त,
सजाये सारे सुन्दर साज॥

(२५)

प्रकृति का यों आमोद-प्रमोद,
निरखने में थे अर्जुन मग्न।
सुनाई दी कुछ मृदु झनकार,
अचानक ध्यान हुआ तब भग्न॥

(२६)

हुये अर्जुन स्तम्भित-से देख,
वहाँ का मोहक-दृश्य-नवीन।
सामने थी शशि-वदना एक,—
संग सखियों के क्रीड़ा-लीन॥

(२७)

"उषा की लख कर प्रभा मनोज्ञ,
छिपा जो अभी-अभी हो मन्द।
वही तो नहीं कहीं यह रम्य,
तारिकाओं-सह उतरा चन्द?

(२८)

"गया था वह तो हो अति मंद,
किन्तु यह छबि अम्लान, अनूप।
अरे, न्योछावर चन्द्र सहस्त्र,
स्वयम् ऊषा यह—रमणी-रूप" ॥

(२९)

देखने में थे जब से मग्न,
अम्बरस्था ऊषा की ओर।
निरखने अब वे लगे सुचारु,
अवनि-ऊषा—सौंदर्य - हिलोर ॥

(३०)

यहाँ भी तो था वही स्वरूप;
किन्तु था कुछ विशेषता-युक्त।
प्रथम की ऊषा थी निर्जीव,
रही यह घूम सजीव, विमुक्त !!

(३)

उषा-सा मुख, रवि-कर-सा भाल,
पुष्प गुलाब से ,चारु कपोल।
टोलियाँ अलियों की यह मत्त,
रही है अलकावलि-मिस डोल ॥

(३२)

नेत्र हैं खग-से मृग-से लोल;
कर्ण क्या ? मानों खिले पलाश ।
नासिका-मिस शुक बैठा मौन,—
लिये मन चिबुक-बिम्ब की आश ॥

(३३)

अधर हैं शतदल-पल्लव-रूप,
मनोहर कुन्द कली-से दांत ।
मोगरे-से कानों में फूल,—
हो रहे हर्षित वे नव-जात ॥

(३४)

रहा ग्रीवा-मिस कूज कपोत; भुजा क्या ? वह तो अरे ! मृणाल ।
लगे कर-कमल खिले निरवद्य; तितलियाँ उन पर नख सित-लाल ॥

(३५)

उरोज सरोज-कली-से चारु,—
नाभि-सर से निकले हैं द्वन्द ।
लता-सी कटि, कदली-सी जाँघ,
चरण गुललाला-से श्री-कन्द ॥

(३६)

रक्तिमा-युत दुकूल के बीच; दमकती यों कुन्दन-सी देह ।
ले रहा अग्नि-परीक्षा सूर्य; अग्नि भीतर है उषा-सदेह ॥

(३७)

कमल, गुल, कुन्द, उपा अनुसार,
रचित यह रचना हुई प्रशस्य ?
प्रथम या इस बाला को देख,—
रचा उनको ? समझे न रहस्य !!

(३८)

रोला

आया एक मलिन्द, वहाँ तब उड़ता-उड़ता।
फिर-फिर उर पर कमल-समझ कर अड़ता-मुड़ता ॥
अर्जुन-मन भी लगा, भ्रमर बन कर मँडराने।
उस कोमल अधखिली-कमल-कलिका-रस पाने ॥

(३९)

उस बाला ने चकित, तभी अर्जुन को देखा।
दौड़ी मुख ललिमा,—लाज की निरुपम रेखा ॥
खिसका अञ्चल ठीक—तरह सर पर सरकाती।
सखियों-सँग गृह-ओर, -चली लजती, सकुचाती ॥

(४०)

भग्न हुआ सुख-स्वप्न, अचानक अर्जुन चेता।
चित्त अधीर हुआ, न सुझाई कुछ था देता ॥
उठा सँभल फिर, निकट वहीं माली से पूछा—
(हुआ भव्य-मुख-चन्द्र, दीप्ति से था तब छूँछा) ॥

(४१)

'यह आकाश-सु-ज्योति, देवि, द्युति, प्रकृति-विभूषा।
कमल-पुञ्ज, सौन्दर्य-जाल, यह उषा—अदूषा॥
है यह बाला कौन ?' मिला उत्तर—'सुकुमारी—
यह है 'चित्राङ्गदा', यहाँ की राजदुलारी'॥

(४२)

भुला 'कुमुदिनी', नव्य—'पद्मिनी' को अब पाने।
अर्जुन-मन-अलि लगा तड़पने, अति अकुलाने॥
फूल-फूल पर भृङ्ग, सदैव भटकता फिरता।
है उसमें वह कहाँ, अचलता, दृढ़ता, स्थिरता॥

(४३)

नर-मन भी है अरे, उसी पथ का अनुगामी।
क्यों न कहें फिर कहो, 'पुरुष' को लम्पट, 'कामी'॥
नारी ! तुम हो विमल, पतिव्रत तुमको प्यारा।
जानें किसने रखा, 'कामि-नी' नाम तुम्हारा॥

(४४)

फिर, होकर ध्यान में, उसी बाला के हाँ, रत।
गये उसी दिन नृपति—चित्रवाहन-ढिग भारत॥
पाया आदर उचित, स्व-परिचय अर्जुन भाषा।
बातों ही में पुनः प्रगट की निज अभिलाषा॥

(४५)

कुमुद-अर्थ शशि, पुरुष—प्रकृति-हित, मनसिज रति-हित।
दिनकर कमलिनि-अर्थ, सजल घन सुन्दर द्युति-हित॥

'चित्रा'—ऊषा-हेतु, उदित यह देख प्रभाकर।
मुदित हुये नृप अनायास यह हीरा पाकर॥

(४६)

फिर यों कहा—'अवश्य, सुता मम होगी धन्या।
किन्तु विनय है—एक, यही है मेरे कन्या॥
अतः, इसी का पुत्र, यहाँ का हो अधिकारी।
हे अर्जुन ! है एक, कामना यही हमारी'॥

(४७)

अन्धे को ज्यों नेत्र, कृपण को मिले धरोहर।
स्वीकृति दी सानन्द—पार्थ ने, मिला सु-अवसर॥
हुआ विवाह, सहर्ष—वर्ष तीन रहे, मणिपुर।
पुत्र हुआ यक 'बभ्रु', हर्ष उमड़ा सबके उर॥

(४८)

वीर पिता का पुत्र, सिंहनी का वह शावक।
बाल-सूर्य-सा तेज-युक्त वह मनहर बालक॥
राजा को आनन्द, हुआ लखकर कुल-दीपक।
पाया वह सानन्द स्वाति-जल, मणिपुर--चातक॥

(४९)

लगा सताने याद, स्व-घर की अर्जुन को तब।
'क्या जाने है वहाँ, बन्धु-बाँधव 'कैसे सब'॥
समझा कर सब हाल, विदा माँगी नृपवर से।
बिदा किया रत्नादि—नृपति ने दे आदर से॥

(५०)

दोहा

'चित्रा' ने दी तब बिदा, होकर अ-वश, अधीर ।
छोड़ प्रिया, सुत को वहीं, चले बहाते नीर ॥

(५१)

भुजङ्ग प्रयात-वृत्त

महावीर गाण्डीव-धारी, बढ़ाते--
अनेकों नृपो से स्व-सम्बन्ध यों ही ।
लिये कृष्ण को सङ्ग में द्वारका से,
मिले 'चन्द्र' आ 'प्रस्थ' में भाइयों से

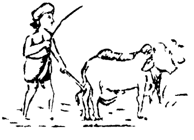

तृतीय सर्ग

(१)

दोहा

दिन-दिन यों ही बढ़ रहा, था पाण्डव-उत्कर्ष।
मन ही मन बढ़ता गया, औ' कुरुराज-अमर्ष ॥

(२)

रोला

पाण्डु-सुतों पर नित्य जला करता, था बोध न।
ऐसा वह दुःशील, दुर्विचारी दुर्योधन ॥
कुछ-ना-कुछ षडयन्त्र, रचा ही करता था नित।
होकर असफल किन्तु, 'आह' ही भरता था नित ॥

(३)

आखिर ऐसा विकट, द्यूत का चक्कर डाला।
कि छिना सब कुछ, मिला उन्हें औ' देश-निकाला ॥
पांडु-सुतों ने द्रुपद-सुता-सह, तज सब माया।
बन-बन तेरह बरस भटक हा ! कष्ट उठाया ॥

(४)

दो-दो युगों समान, वर्ष वे तेरह बीते।
पर वे हुये न धर्म-धैर्य-साहस से रीते ॥

शशि-मण्डल पर दृष्टि, राहु की पड़ी कड़ी वह।
खो न सकी अस्तित्व--तेज का, अशुभ घड़ी वह॥

(५)

दुर्योधन फिर भी न, उन्हें कुछ देना चाहा।
थके कृष्ण कर यत्न, नहीं पर वह माना, हा!!
'बिना युद्ध न कदापि', एक था यह ही उत्तर—
'दूँगा केशव! भूमि—सुई की नोक—बराबर'॥

(६)

हो न सका यों मेल, द्वेष-विष-बिन्दु पड़ा था॥
भारत के भाग्य में, हाय! दुर्भाग्य बदा था॥
आखिर छिड़ ही गया—रण, सुभट हुङ्कार उठे।
औ' तलवारें चमक—गईं, धनु टङ्कार उठे॥

(७)

महायुद्ध वह युद्ध—न, था रण-चण्डी-नर्तन।
भारत का क्या? अरे, हुआ जग का परिवर्तन॥
'भारत'—रत भट हुये, हुआ हा! भारत गारत।
हुआ मिटा महि-भार महा भार महाभारत॥

(८)

सीमित रही न अग्नि, गृह-कलह की गृह तक वह।
छाई चहुँ दिशि बीच, प्रलय बनकर दाहक वह॥
धन, जन, बल, पुरुषार्थ, सु-विक्रम सब भस्म हुआ।
मिटा विभव सब हाय! भव्यता बन गई धुँआ॥

(९)

हुआ न दूजा युद्ध, कभी फिर इसके सानी।
मरे करोड़ों वीर, बहा शोणित—ज्यों पानी॥
रहा न नाता बन्धु—बन्धु, गुरु-चेले का हा!
किया निगोड़ी इसी फूट ने भारत स्वाहा!!

(१०)

अस्तु, अष्ट-दश-दिवस बाद, बन्द हुआ ताण्डव।
हुआ प्रकट फल यह कि, हुये वे विजयी पाण्डव॥
धर्मराज का राज-तिलक तब सम्पन्न हुआ।
सुर-मण्डल तक कर प्रसून-वृष्टि प्रसन्न हुआ॥

(११)

धर्मराज का धर्म-राज फिर जग ने पाया।
व्यापी चहुँ दिशि शान्ति, सौख्य भारत में छाया॥
काली निशि के बाद प्रभात मिला मन-भाया।
फिर भी यही विचार, युधिष्टिर-हृदय सताया॥

(१२)

'कि अनेकों बल वीर पड़े हा! रण में चित हो।
कुछ इस महँगी मिली, विजय का प्रायश्चित हो'॥
रही लालसा—सार्व भौम भी बन जाना है'।
तब आयोजन अश्व-मेघ का ठहराना है॥

(१३)

तभी सजा प्रतिहार, चपल ले आया घोड़ा।
'विजय-पत्र' सिर बांध, गया है वह फिर छोड़ा॥

लेकर सैन्य अजेय, 'विजय' विजयी बलशाली ;
चले दिग्विजय-हेतु, चाल फिर वह भूपाली ।

(१४)

द्रुतविलम्बित-वृत्त

अकड़ता, डुलता, रुकता कभी ।
थिरकता, नचता फिर दौड़ता ॥
उछलता, भगता अति वेग से ।
विजय-अर्थ चला हय वीर-सा ॥

(१५)

बलवती, सुकृती, जयती, जती ।
उमगती जय औ' यश के लिये ॥
'विजय'-सा पति ले विजयी चली ।
उमड़ती महती वह है चमू ॥

(१६)

घहरते सँग थे रथ जा रहे ।
कड़कते जनु इन्द्र-सुवज्र हों ॥
पणव थे करते रव घोर वे ।
घनकते नभ हों घन-मेघ ज्यों ॥

(१७)

उड़ रही इतनी तब धूल थी ।
सघन बादल ज्यों नभ छा गये ।
चमकतीं असि थीं वर सैन्य की ।
तड़पती जिमि हों वह दामिनी ॥

(१८)

तब चली वह सैन्य अदृश्य हो।
छिप रहा रवि-मण्डल ज्यों अहो !!
समय हो वह पावस का रहा।
बरसना चहता अब रक्त है॥

(१९)

रोला

जग में बजता रहा, पाण्डवों का तब डङ्का।
'वे ही होंगे जयी', किसे हो सकती शङ्का॥
हो किसमें सामर्थ्य, आय सम्मुख निश्शङ्का।
यम भी लड़ते खाय पार्थ से जब आतङ्का॥

(२०)

फिर भी कोइ अगर, अकड़ता सम्मुख आता।
'मुँह की खाता', माँग—क्षमा, शरण विवश जाता॥
इसी तरह अनगिनत, काट नृप गण के बेना।
पहुँच गई तब अश्व-सहित मणिपुर वह सेना॥

(२१)

चित्राङ्गद-सुत, वंश-उजागर, मणिपुर का मणि।
तेज-पुञ्ज, पुरुषार्थ-सीम, शौर्य-सुविक्रम-आणि॥
वर शार्दूल किशोर, 'बभ्रु' वह अरि-मद-द्रोहक,।
पकड़ लिया लख वहाँ, भटकता अश्व विमोहक॥

(२२)

विजय-पत्र फिर देख, बली बालक मुसकाया।
कहा—'अवनि पर शूर, है न क्या कोई जाया ?
जीने से परतन्त्र मरण वर, वीर समझते'।
लेकर सँग में अश्व, चला वह हँसते-हँसते ॥

(२३)

'रण-हित हों तैयार,' अनिप को आज्ञा देकर।
गया जननि-ढिग मातृ-भक्त शर-चाप लिये कर—
'लेने आशीर्वाद, और तद्वत् रण-अनुमति'।
उमड़ रही थी इधर, चमू अपगा-सी द्रुत-गति ॥

(२४)

हुई वृत्त माँ जान प्रफुल्लित, हर्षित, पुलकित।
गद्गद हो, सुत-भाल चूम, बोली यों सस्मित ॥
'तव-मम होंगे आज, दरश से दुःख निवारण।
बेटा ! कहतो, पुत्र—पिता का सो कैसा रण !!

(२५)

'ले आ आदर-सहित उन्हें घर, शीश नवाये।
बड़े भाग्य से आज तुम्हारे, वे हैं आये' ॥
मातृ-भक्त कर नमन, चला तब वह हर्षाता।
गई संग,—जो वहीं उलूपी थी,—सु-विमाता ॥

(२६)

मोदक-वृत्त

रत्न-अभूषण, भेंट सजाकर।
अश्व लिये वह बाल-प्रभाकर॥
जा पहुँचा ढिग तात, नवाकर—
शीश,—कहा फिर यों मुसकाकर॥

(२७)

गीतिका

'धन्य दर्शन से हुआ, लो तात! पुत्र-प्रणाम है।
जननि है 'चित्राङ्गदा', मम 'बभ्रुवाहन' नाम है॥
अश्व को,—कीजे क्षमा,—पकड़ा विचार बिना किये।
घर पधारें, उत्सुका है मात दर्शन के लिये'॥

(२८)

सुन, धनञ्जय ने कहा—'धिक्कार है कायर तुझे।
लाज बनते सुत न आती, भीति-वश पामर तुझे'॥
बभ्रुवाहन को तहाँ यों देखकर आता हुआ।
शौर्य में उसके उन्हें तब व्यर्थ संशय था हुआ॥

(२९)

('युद्ध' में आया न, अब यह घोर कायरता; अरे!
पुत्र हों तो क्या? न ऐसे जन्म लें,—होते मरें)॥
'क्या न यह यज्ञाश्व को धरते समय था जानता?
मूर्ख! कायर-सम समर से भीति अब जो मानता'॥

(३०)

क्षुब्ध, हत-प्रभ-सा हुआ वह, सुन बचन यों अति निठुर।
वज्र गिरने से यथा रह जाय नव-पौधा ठिठुर॥
फिर सँभल बोला—'पिताजी! मैं न रण-भय खा रहा।
कर रहा हूँ बस वही, जो कुछ कि माता ने कहा'॥

(३१)

'चुप, ज़बान चला न शठ!' यों बीच ही में काटकर।
क्रोध-युत, आवेश में बोले धनञ्जय डाँटकर॥
'पुत्र तू न कदापि है मम; कौन है चित्राङ्गदा—
याद आती है न अब, मैंने वरा उसको कदा?॥

(३२)

'पुत्र था अभिमन्यु मेरा लाड़ला, वह वीर-वर।
वीर-गति पा लड़ समर में हो गया है जो अमर॥
शत्रु को उसके न होंगे स्वर्ग में भी शर बिसर।
हो न अर्जुन का सके तुझ-सा कभी गीदड़ पिसर'॥

(३३)

सुन, उलूपी के 'हृदय पर साँप लोट गया' तभी।
आर्य-नारी शील पर, आघात सह न सके कभी॥
बोल उट्ठी—'वत्स मेरे! मुँह न नीचा यों करो।
वीरता निज दो दिखा, लो बाण-धन्वा कर धरो॥

(३४)

'है उपस्थित मान-रक्षा-प्रश्न टेढ़ा अत्यधिक।
पूज्य यद्यपि है पिता, पर मातृ-गौरव है अधिक॥

हो गया है गर्व इनको, कौरवों को मार कर।
जो लगाते दोष धर्म-अधर्म का न विचार कर' ॥

(३५)

बभ्रुवाहन-बुद्धि दुविधा में प्रथम थी खो गई।
माँ उलूपी के वचन से हल समस्या हो गई ॥
तमक कर बोला तभी, कर्तव्य निज पहचान कर।
सिंह, शावक क्रुद्ध हो करि-घोष ज्यों अनुमान कर ॥

(३६)

'मौन था मैं जान कर ही पूज्य अब तक सर्वथा।
खींच लेता जीभ को चढ़ वक्ष पर मैं अन्यथा ॥
यों करे कोई कभी यदि जननि को अपमानिता।
शीश उसका तोड़ दूँ, फिर हो न क्यों वह यम, पिता' !!

(३७)

'मात ही बस धर्म है, सब धर्म और अधर्म है।
मातृ-सेवा ही जगत् में परम-उत्तम कर्म है ॥
मात ही है सत्य, है क्या और की तो बात ही।
यदि कहीं परमेश है, तो एक है बस मात ही ॥

(३८)

'युद्ध-हित ललकार दें रण-क्षेत्र में कोई अगर।
काल से भी वीर फिर निःशङ्क करते हैं समर ॥
रण करूँ, सम्मुख अगर हों, इन्द्र, यम, हरि, तुम तथा।
सत्य कहता हूँ पिता जी ! अन्य की तो क्या कथा' ॥

(३९)

'बन्धुवर अभिमन्यु से मुझको न कुछ कम जानना।
आप तक को जब हरा दूँ, पुत्र निज तब मानना॥
लो परीक्षा, वीरता अपनी दिखाऊँगा तुम्हें।
अम्ब के अपमान का भी रस चखाऊँगा तुम्हें'॥

(४०)

'आर्य-नारि-सतीत्व को खिलवाड़ समझा आपने!
है किया अन्धा तुम्हें मद-गर्व-राजस-ताप ने॥
आज वह सब आपका अभिमान कर दूँ चूर है।
बच सको जीवित न अब, फिर अश्व लेना दूर है'!!

(४१)

निकट ही के वृक्ष से मख-अश्व को तब बाँध कर।
हो गया वह समर-हित तैयार शङ्ख-निनाद कर॥
वीर अर्जुन-सैन्य के सब हो गये सुन कर चकित।
गर्जना सुन केहरी की करि-कटक ज्यों हो थकित॥

(४२)

आ गई मणिपुर-चमू सुन शङ्ख की आवाज़ को।
सूचना मानो मिली हो पक्षियों की बाज़ को॥
वीर दोनों ओर के लड़ने लगे सम्मुख अड़े।
दो विशाल गिरीश ज्यों टकरा गये, रे लड़ पड़े॥

(४३)

बरसने लोहा लगा, होने लगा घमसान है।
जान-युत लड़ने लगे हो जान से अनजान है॥

रुण्ड-मुण्ड जहाँ-तहाँ कट कर गिरे, शोणित पगे।
रक्त की सरिता बही, रण-देवता लय-हित जगे॥

(४४)

हो रही 'जय पाण्डवों की' एक तरफ पुकार है।
बभ्रुवाहन की उधर 'औ' हो रही 'जयकार' है॥
जोश था, उत्साह था, सब में भरा आवेश था।
शत्रु का सिर लक्ष्य ,था, सबका वही उद्देश था॥

(४५)

पार्थ-नन्दन-वीरता तब देखने ही योग्य थी।
रण-कुशलता 'औ' चपलता पेखने ही योग्य थी॥
जिस तरफ उसके विशिख थे छूटते बिन-चूक-से।
रिपु उधर ही 'आह' भर गिरते रहे दो टूक-से॥

(४६)

खींचता शर तूण से कब, कब उन्हें संधानता।
कौन उसका लक्ष्य, सो रिपु बिद्ध होकर जानता॥
रोक सकता था न कोई प्रखर-तर-शर-वेग को।
दीखता रवि-तुल्य था वह, चीरता-सा मेघ को॥

(४७)

शर घुसे उसके अ-रोक विपक्षियों के गात्र में।
यों रणस्थल को शवों से भर दिया क्षण-मात्र में॥
पतित होता मेघ ज्यों रवि-ताप से निज जल बहा।
त्यों गिरा आरक्त हो वह, जो खड़ा सम्मुख रहा॥

(४८)

सुभट गण होने लगे जब विकल, विद्ध, अ-बोध-से ।
सामने तब कर्ण-सुत वृषकेतु आया क्रोध से ॥
कान तक धनु तान कर शर एक छोड़ा नाग-सा ।
पर विनष्ट किया गया वह, बीच ही में झाग-सा ॥

(४९)

हँस, कहा वह—'बन्धु ! मिट्टी का घरौंदा है नहीं ।
इन करों से तोड़ दो जो तुम उसे आकर कहीं ॥
क्यों गँवाते प्राण निज ? जाओ, कहूँ तुमको स-नय ।
सुन, अधिक आवेश में लड़ने लगा रवि-सुत तनय ॥

(५०)

रण-कुशल थे, अति चपल थे, वीर दोनों थे अमित ।
थे अभी बालक उभय-जन, किन्तु निर्भयता निहित ॥
लड़ रहे दोनों—लखन—लंकेश-सुत-सम क्रुद्ध हों ।
दो मृगेन्द्र-किशोर मानो कर रहे या युद्ध हों ॥

(५१)

कह—'सँभल जाओ अतः, ईश का लो ध्यान कर' ।
पार्थ-सुत ने एक छोड़ा तीर तीखा तान कर ॥
घुस गया शर वक्ष में कोदण्ड से वह छूट कर ।
गिर पड़ा वृषकेतु ज्यों नक्षत्र नभ से टूट कर ॥

(५२)

कर्ण-सुत की मृत्यु से, होने लगा 'हा-कार' है ।
हो गये बेचैन अर्जुन, क्रोध-युक्त अपार है ॥

उस तरफ अनुशाल्व को लव तैश में आता हुआ।
एक शर से सर उड़ाया, 'बभ्रु' रिस खाता हुआ॥

(५३)

'बस, सँभल, तैयार हो, जीवित न बच पावे, अरे'!
पार्थ तब कहने लगे उद्देश सुत को, रिस भरे॥
'वीर निस्सन्देह है तू, क्षत्रियोचित शान है।
किन्तु मम क्रोधाग्नि में हो भस्म तूल समान है'॥

(५४)

'देखना, क्रोधाग्नि-हित मैं हो न जाऊँ जल कहीं।
आइये, सुत आपका है, आप से कुछ कम नहीं'॥
इस तरह कह 'बभ्रु' ने छोड़े नुकीले बाण है।
हो गये रिपु-पक्ष के सब वीर गण म्रिय माण है॥

(५५)

उन शरों को विफल-से करते हुये अर्जुन तभी।
कह उठे—'तू कर सके क्या समर! है बचपन अभी'॥
भर दिये रिपु सैन्य को कर बाण-वर्षा इस तरह।
ग्रीष्म में बन पतित होता है हुताशन जिस तरह॥

(५६)

व्यथित सेना हो गई जब उन शरों की मार से।
शान्त कर यों,—तप्त भू को मेघ ज्यों जल-धार से॥
तात से सुत ने कहा—'अब रोकिये मम ठेल भी।
देख लीजे नेक अब हम बालकों का खेल भी'॥

(५७)

काट प्रत्यञ्चा, दिया इक छोड़ बाण-समूह ही।
बाण क्या थे वे अरे ? था व्याल का वह यूह ही॥
हो गये भय भीत सैनिक, देख कर आता उन्हें।
शीघ्रता से पार्थ ने पर बीच में काटा उन्हें॥

(५८)

बरसते दोनों तरफ थे अस्त्र-शस्त्र नये, घने।
रण पिता 'औ' पुत्र का वह देखते ही था बने॥
वीर कितने ही सदा को भूमि पर थे सो गये।
रत्न भारत के अनेक अतीत में हा! खो गये॥

(५९)

उस समय इस जोश से था बभ्रुवाहन लड़ रहा।
सर किसी का काट, छेद किसी—किसी का धड़ रहा॥
विद्ध अर्जुन यों रहे तब दीखते शोणित-पगे।
वृक्ष पर मानो सुमन रक्ताभ टेसू के लगे॥

(६०)

रिस-भरे गाण्डीव-धर ने फिर चढ़ा असु बाण को।
काट धन्वा, चूर उसके कर दिया शिर-त्राण को॥
फिर त्वरा युत एक छोड़ा विकट बाण-समूह है।
बन गया रण-क्षेत्र मानो विशिख-चक्र-सु-व्यूह है॥

(६१)

सायकों का स्तूप-सा वह देख कर आता हुआ।
एक क्षण को बभ्रुवाहन वीर विचलित था हुआ॥

सारथी ने युक्ति से पर रथ घुमा तत्क्षण लिया।
सँभल, पवि-सम अस्त्र से उसने उन्हें निष्फल किया॥

(६२)

रोला

होकर अति ही कुपित, बभ्रुवाहन ने तब ही।
सैन्य-हनन में शक्ति, लगा दी अपनी सब ही॥
बाणों की बौछार, भयङ्कर कर दी उसने।
लगे विपक्षी-अङ्ग-अङ्ग में शर वे घुसने॥

(६३)

एक विशिख से काट, पार्थ-धनु-प्रत्यञ्चारी।
तत्क्षण छोड़ा तान, दूसरा शर संहारी॥
डोरी जब तक धनुष, लगा भी अन्य न पाये।
कि अचानक शर घुसा, पार्थ-वक्ष सन सनाये॥

(६४)

दोहा

रथ में अर्जुन गिर पड़े, व्यथा सहित, निमूर।
रक्तिम हो संध्या समय, पश्चिम में ज्यों सूर॥

(६५)

वंशस्थ-वृत्त

जभी किरीटी रण-भूमि में गिरे।
अतीव कोलाहल छा गया तभी॥
स-शोक दौड़े अकुला सभी तहाँ।
अवाक-सा हो 'मणि'-'चन्द्र' भी गया॥

चतुर्थ सर्ग

(१)

दोहा

निकट दिवस-अवसान था, दिनकर खो उल्लास।
पश्चिम-जलधि विराम-हित, जाने लगे उदास॥

(२)

रोला

यों ही था हो गया, बभ्रुवाहन अति घायल।
पिता-मृत्यु ने और, कर दिया उसको पागल॥
पितृ-घाती निज जान, विमन-मन हो, अकुला कर।
मूर्छित होकर गिरा, धरा पर 'हा-हा' खाकर!!

(३)

हाल उलूपी का न, बयान किया जा सकता।
रुदन श्रवण, पाषाण-हृदय भी अरे! दरकता॥
'हाय नाथ! प्राणेश, प्राण-धन, प्राण-सहारे'!
खाकर गिरी पछाड़, 'रहे क्यों प्राण हमारे'॥

(४)

फिर जब आया होश, तो विमूढ़ा-सी होकर।
सर धुन, करने लगी विलाप, चेतना खोकर॥
'मैंने किया अनर्थ, दुराग्रह-वश हा! भारी।
मति मम मारी गई, 'नारि' मैं बनी 'अनारी'!!

(५)

'हा ! हा ! मम दुर्भाग्य ! दरश-हित थी मैं आई।
जीवन-धन को किन्तु, नयन-भर निरख न पाई ॥
गल जाये यह जीभ, बजा दी हा ! रण-भेरी।
धिक्-धिक् है, दुर्बुद्धि—जगत् देखे यह मेरी !!

(६)

'थी प्रिय दर्शन-आश हृदय में, हर्षित थी मैं।
चरण-स्पर्श-हित-निरत, मुदित मन, पुलकित थी मैं ॥
हा-हा ! नागिन नाथ ! बनी, उगला विष मैंने।
कुटिल, निर्दई काल ! कुटिलता की क्यों तैंने !!

(७)

'मुँह लो रहे छिपाय, सहस्त्र-किरण भी अपना।
हरे ! दुखी-जन-काज, न होवे कोई 'अपना' ॥
'ठहरो ! तजो न नाथ ! हो रहे तुम्हीं पराये !
विपदा में हा ! दुष्ट-देह भी पिंजड़ा बन जाये !!

(८)

'सखि चित्रे ! पापिनी,—बनी स्वामि-घातिनी मैं।
तव-मम सर्वस होम—दिया, हा। अभागिनी मैं ॥
कलुषित मुख देखो न, कभी मेरा'—यों कह कर।
पुनः गिरी चेतना-हीन होकर पृथ्वी पर ॥

(९)

दशा न यह भी अधिक—काल तक पाइ रहने।
मूर्छा भी दी त्याग, उसे दुस्सह दुख सहने ॥

पार्थ-मरण-संवाद, नगर में पहुँचा क्षण में।
लगते बिच्छू-डङ्क, जहर ज्यों फैले तन में॥

(१०)

अति अप्रिय सम्वाद, प्रिय-मरण का वह पाकर।
चित्र-समान निमेष, रही 'चित्रा' मुँह बा कर॥
हो सचेत, हत-चेत—गिरी फिर, वह रमणी-वर—
'हा भगवन्! हा नाथ!' तभी कह कर अवनी पर॥

(११)

फिर ज्यों ही की गई, दासियों द्वारा जागृत—
विक्षिप्ता, प्रभ-हता, राज माता, जीवित-मृत;
तत्क्षण तज प्रासाद, वह चली रणस्थली को।
ग्रीष्मातप से तपित, दलमली वनस्थली को॥

(१२)

चित्रलेखा-वृत्त

संध्या 'सी-सी' पवन-मिस अरे! रो रही भाग्य हीना।
लाली प्राची-मुख पर उसके हो रही दृष्टि माना॥
तारे आँसू गगन-तल बने; छा रही थी उदासी।
चित्रा को थी नव-निशि उसकी-सी दुखारी दिखाती॥

(१३)

ज्यों ही चित्रा समर-थल चली, खिन्न, आँसू बहाती।
गेरे पत्तों-मिस दृग-जल वे वृक्ष भी धैर्य वाले॥
पक्षी सारे रव कर मन की वेदना थे जनाते।
मानों सारी विकल प्रकृति ही हो रही थी अधीरा॥

(१४)

धूली जो थी पथ पर उड़ती पाद के आहतों से।
सो भी होके चलित, समदुखी दूर लौं साथ जाती॥
पै चिन्ता ना कर कुछ उनकी जा खड़ी युद्ध भू पै।
आँखें फाड़े, निमिष कुछ रही देखती बावली-सी॥

(१५)

थे वे डूबे-रवि-सम गत-कौन्तेय—गाण्डीव धारी।
संध्या-सी थी व्यथित, पतित भू पै विलापी-उलूपी॥
ओ' जो थे वे सकल भट खड़े क्षुब्ध थे पादपों-से।
चित्रा आई तब विमन-मना—भास होती निशा-सी॥

(१६)

रोला

लोहित भूतल हुआ, रक्त पी-पी वीरों का।
रुण्ड-मुण्ड का ढेर, लगा था रण-धीरों का॥
खण्ड-खण्ड थे मान, दबे थे कितने देही।
औंधे-मुख थे पड़े, तुरग-हाथी कितने ही॥

(१७)

अङ्ग-भङ्ग, विकलाङ्ग, अर्द्ध-मृत, शोणित-सिंचित।
कितने पड़े कराह—रहे, दृग-खोले-किञ्चित॥
सैनिक थे जो शेष, खड़े थे अश्रु बहाते।
नत-मस्तक, कर-बँधे, 'आह' थे भरते जाते॥

(१८)

अहि-जा श्री-हत, बाल—बिखेरे अर्द्ध-निशी-से।
लिये अङ्क पति-शीश, सरिस-सावित्री दीसे॥
औ' जिसका मुख श्याम, पड़ा था मनः व्यथा से।
निज सुत माँ को वही, काल-सा था तब भासे॥

(१९)

इस प्रकार दुर्दृश्य, बभ्रु-जननी-सम्मुख था।
एक साथ हिय क्रोध, और उमड़ पड़ा दुख था॥
प्रथम दुःख आवेग, बढ़ा क्रोधावेग पुनः।
सह न सकी, भुवि गिरी, हुआ मूर्छोद्रेक पुनः॥

(२०)

मुक्तामणि

फिर जब आई चेत में, मन्द-पवन के द्वारा।
पति-समीप उठ कर गई, धीरे अर्जुन-दारा॥
खड़ी रही चित्रस्थ-सी, तहँ प्रत्यक्ष व्यथा-सी।
चरणों पर फिर गिर पड़ी, वह उत्खात लता-सी॥

(२१)

धर कर कस कर पति-चरण, अश्रु अतीव बहाती।
कभी पटकती सर धरा, कभी पीटती छाती॥
करे प्रलाप-विलाप बहु, तब उद्भ्रान्त-हरी-सी।
विदग्ध-हृदया, व्याकुला, वह क्लांत, अधमरी-सी॥

(२२)

'कर्म, धर्म सुख-सार सब, जीवन-जीवन था जो।
पूज्य हृदय का एक ही अनुपम-प्रिय-धन था जो॥
छोड़ तुम्हें अब गत हुआ, सुर पुर में वह प्यारा।
यहाँ कहो हे प्राण! अब, क्या है काम तुम्हारा!!

(२३)

'थी तृषार्त्त मैं दरश-हित, युग बीते कितने ही।
लखा किये पद-स्पर्श के, संतत सुख-सपने ही॥
'मनः कामना पूर्ण हों'—आज समय था आया।
किन्तु हाय! दुर्दैव ने, आशा-दीप बुझाया!!

(२४)

'मम जीवन-आशे तुम्हीं'—कहना जाती बेला।
भूल गये क्या नाथ वह, यह कैसी अवहेला!
उठो उठो, प्राणेश मम, खड़ी तुम्हारी 'आशा'।
स्वयम् निराश्रित-सी अरे! बन कर स्वयम् निराशा!!

(२५)

'प्रथम वाटिका-भेंट में, इतना नेह बढ़ाया।
कि स्वयम् ही आकर अहो, दासी को अपनाया॥
अब न बोलते नेक तुम, विपर्यास यह कैसा!
पहले तो तुममें नहीं, था निष्ठुरपन ऐसा!!

(२६)

'उठो, तुम्हें है अश्व के, पीछे-पीछे जाना।
योग्य नहीं तुमको यहाँ, निद्रा को अपनाना॥

हे कुरु-कुल के प्राण ! क्या विनती नहीं सुनोगे ?
जीवन-दाता ! तुम स्वयम्—जीवन यों तज दोगे ?

(२७)

'बड़े-बड़े योद्धा, रथी, भय से जिसके आगे—
थे शृगाल-सम दुम दबा, फिरते भागे-भागे ॥
निज बालक द्वारा हुई, आज दशा उनकी ये।
अचरज अति ! दुर्भाग्य कति ! गति उस अर्जुन की ये !;

(२८)

'हे सुधांशु ! तुम क्यों नहीं, यहाँ सुधा बरसाते ?
भाग्य-अँगारे बीच में, या मम उसे नसाते ?
अरे, अरे ! तुम रो पड़े, ढुलके आँसू-तारे !
रोव नहीं,—सींचो अमिय,—दुखिया-दुःख निहारे !!

(२९)

'प्राण प्रद हे पवन तू, क्यों न सँजीवनि लाता ?
अथवा मम दुर्भाग्य-विष, दूषित तुझे बनाता ?
आ, संजीवी ! आ, त्वरित—जीवन-धन को छू तो।
'सिस्-सिस्' कर है भर रहा, हाय ! सिसकियाँ तू तो !!

(३०)

'हे सरिता ! जीवन-युता, यम-जित्, तू अजिता है।
तू ही आ, तुझमें नहीं, रहती अनरसिता है ॥
पीड़ा समझे, नारि तू ! निष्फल यह न गिरा हो।
अरे ! चली तू स्वर-युता, हा भाग्य। अस्थिरा हो !!

(३१)

तारे अस्थिर हो रहे, खग-कुल भी रोता है।
दुःखित वृक्ष-समूह वह, स्तम्भित-सा होता है॥
बेकल जड़-चेतन हुआ सकल, कलक से मेरे।
पर न नाथ! मम ओर तुम—निर्मम! अब तक हेरे!!

(३२)

'दुःख-निवारक देव हो, हे यम! तुम ही आओ।
मुक्त देह-बन्धन करो, और न अब तड़पाओ॥
किन्तु हाय! वह अन्त भी, घृणा करे है जैसा!
स्व बस नहीं,—मर भी सके; दुखिया-जीवन कैसा!!

(३३)

'हृदय-मुकुर पर हो गया, खण्ड-खण्ड अब मेरा।
शत-शत बनकर कर रहे, अब तो नाथ बसेरा॥
कौन अहो मुझसे तुम्हें, अब विलगा सकता है?
अभी अग्नि-पथ से मिलूँ,—इसमें न विवशता है'॥

(३४)

ओह। सकल रणधीर भी, निबरण—धीर गँवाये।
अबला-क्रन्दन लख, हृदय—कौन रहे अचलाये?
ज्वाला-मुखी-समान वह, दुखी निबह रोता था।
फूटा सोता; कुछ किये—न किसी के होता था॥

(३५)

कहें बभ्रुवाहन-दशा—क्या? उसकी समता क्या?
माँ की ममता में पला, पता न निर्ममता क्या?

ओष्ठ मिले द्वय, 'अम्ब मम !' इतना ही कह पाया।
'दुष्ट दूर ....'
बस, रुँध गया—गला, न कहते आया !!

(३६)

शब्द नहीं, आघात थे—नन्हें हिय पर ये दो।
उपमा कुछ उपयुक्त अब, पाठक ! तुम ही दे दो॥
दुतकारा था सुरुचि ने, जब कठोर कर छाती।
समता—वह ध्रुव-हिय-दशा-कुछ-कुछ है कर पाती॥

(३७)

तात-वचन सुन, रोष से—था तिलमिला उठा वो।
मात-वचन सुन, शोक से—अब दिल हिला उठा वो॥
निश्चय, शब्दाघात है—भीषण, सहा न जाये।
वज्राहत जाये सँभल, शब्दाहत नहिं पाये॥

(३८)

जहँ का तहँ वह रह गया, संभ्रम-सा, ठिठका-सा।
अका, थका औ' सकपका, अकचका, हकबका-सा॥
बहका-सा तब अकबका,—'मैं—क्या—हाँ, पापी हूँ।
'दुष्ट दूर'—घाती, निठुर, राक्षस, क्यों ? शापी हूँ'॥

(३९)

'पितृ-घाती' मैं, अब बनूँ—क्यों न 'आत्म-घाती' भी' ?
पटका सर—यों कह—धरा, कूट लिया छाती भी॥
'और 'मातृ-घाती' बने, बन अब 'कुल-घाती' भी'।
कह उट्ठी चित्राङ्गदा, रोती-बिलखाती भी॥

(४०)

'तू तो बस फटकारती, आज मुझे हे माता'!
'तेरा मुख 'कालिख-पुता', बिलकुल मुझे न भाता'॥
'निज सुत से इतनी घृणा! क्यों हाय दुरदुराती'?
'विधवा हा! माँ को किया, लाज न तुझको आती'?

(४१)

'भेंट-सहित मैं तो गया, पद पर शीश नवाया।
असह्-बचन कह तात ने, किन्तु मुझे ठुकराया'॥
'पिता पुत्र से दुर्बचन, कहते क्या न कभी हैं?
पर करते दुष्कृत्य यों, तुझ-से अरे! सभी हैं'?

(४२)

'मुझे लगाया अम्ब मम! लाञ्छन, बिना बिचारे।
एक बार भी तो नहीं, 'बेटा' मुझे पुकारे'॥
'उनकी क्या, मैं भी नहीं, कह सकती अब 'बेटा';
गाली से तू तात की, होता था,—क्यों?—हेटा'?

(४३)

'धिक्कारित उनके बचन, सहन नहीं हो पाये'।
'मुझसे भी अब तो सही—न वियोग-व्यथा जाये'॥
'मैया!'......'चुप रह, क्यों बके, अब मुझको भी रोले।
उऋण पिता से हो चुका, मातृ-उऋण भी होले'॥

(४४)

'माँ! माँ! यह तू क्या कहे? पापी मैं कितना रे'!
'सच कहती हूँ—अब मुझे, रहना जीवित ना रे॥

चिता सजा, हूँगी सती, यह ही अन्तिम पूजा'।
'आप मरूँगा मैं प्रथम, तब कुछ होगा दूजा'॥

(४५)

रोला

ज्यों ही खींच कटार, मारना उर पर चाहा।
रोक लिया झट हाथ, उलूपी न कह—'हाँ-हाँ'॥
'है क्या हमको योग्य, धैर्य बिलकुल खो देना?
स्वयम् हानि पर हानि, अरे, हाथों कर लेना?

(४६)

'देखो, धड़कन शेष, दीखती अभी हृदय की।
उचित करें उपचार, अशक्य न कृपा सदय की॥
पिता-निकट है अमिय-सनी—संजीवनि - बूटी।
तुरत लायँ।' यह श्रवण, उपस्थित जनता ऊटी॥

(४७)

सब जन उठे पुकार, एक स्वर से—'मैं जाऊँ—
नाग राज से माँग, अमिय-बूटी ले आऊँ'॥
खुद जाने की किन्तु, बभ्रुवाहन ने ठाना।
माँ भी बोली—'उचित उसी का होगा जाना'॥

(४८)

दोहा

माँ का पा आशीर्वचन, कर चरणों का स्पर्श।
त्वरित किया प्रस्थान, था—करना कौन विमर्श॥

(४९)

इन्द्रवन्शा-वृत्त

रोते न कोई, हँसते न, क्षुब्ध थे।
आशा-निराशा-मय हो रहे सभी॥
चित्रा- उलूगी-स्थिति 'चन्द्र' क्या कहूँ।
गौरी मनाने मन में उभै लगीं॥

पञ्चम सर्ग

(१)

दोहा

अर्द्ध गई जब बीत निशि, 'बभ्रु' गया अहिदेश।
नम्र-भाव से नृप-निकट, कह भेजा सन्देश॥

(२)

रोला

राजकीय कुछ गुप्त—मंत्रणा-हित उस अवसर।
जमा ख़ास दरबार, व्यस्त थे वहाँ भूपवर॥
इस कारण दौहित्र, वहीं पर गया बुलाया।
नाना को जा शीश, बभ्रुवाहन ने नाया॥

(३)

'क्यों बेटा! इस अर्द्ध-रात्रि की बेला क्यों कर—
आये; क्या है बात? कहो तो'—बोले नृप वर॥
थोड़े में सब हाल, बाल-नृप ने समझाया।
जाने का भी हेतु वहाँ अपना बतलाया॥

(४)

बड़े यत्न से प्राप्त, हुई थी संजीवनि वह।
जामाता-हित किन्तु, 'नहीं' अहिपति न सके कह॥
नृप-मुख ज्यों ही प्रकट, हुये स्वीकृति के लक्षण।
मंत्री—दे व्याख्यान,—बभ्रु से बोला तत्क्षण॥

(५)

'वह संजीवनि प्रजा--प्रवर की है वर थाती।
पुर-वासी तुम हो न, भले ही हो नृप-नाती॥
औरों की क्यों,- कहो--धरोहर तुमको दें हम ?
जीवन-मणि वह फणिक-जनों की यों खो दें हम'॥

(६)

इस उत्तर का था न, भान कुछ; वाक्य अपूठा--
मुख से निकला,--'हाय! दैव ही है क्या रूठा'॥
फिर कहा कि-'है किन्तु, पिता मम-नृप जामाता'।
उत्तर था--'इस तरह, रखें किस-किस से नाता'॥

(७)

'मार गया ज्यों काठ' बभ्रुवाहन को, सुन कर।
मानव यों स्वार्थान्ध बने हा! धिक् नर--तमचर!!
कहा वचन फिर विनय-क्रोध-मिश्रित, पर निर्भय--
'मणि-धर का भी हाय! हृदय होवे है विषमय!!

(८)

'लूँगा मूरि परन्तु, अभी मैं नाना जी से।
नाराज़ी से सही, मिले अगर न राज़ी से॥
मेरा जीवन-मूरि-बिना, मरना जीना है।
मेरा जीवन-मूरि-हेतु मरना, जीना है'॥

(९)

यों हठमय औ' गूढ़ वचन सुन, चकित हुये सब।
दुष्ट बुद्धि से किन्तु, बाज़ आता मन्त्री कब ?

बोला तेवर बदल,—'अरे, क्यों धमकी देवे।
जा, मणि हम न गहायँ, लखें—क्यों कर तू लेवे' !!

(१०)

पटक 'धाम' से हाथ, ताम से वह तमक उठा।
मुख उसका—अग्नि में तामरस-सा दमक उठा ॥
'हाँ देखें—किस तरह, अभी लेता हूँ मैं मणि।
देगी तुमको बता, प्रखर-तर मम जमधर-अणि ॥

(११)

'भीष्म, द्रोण, कृप, कर्ण, मरे हैं जिससे लड़कर।
उस अर्जुन को आज, भूलते हो तुम जड़वर ॥
अस्त सूर्य को देख, हँसे तुम-से जुगनू नित।
हूँगा पर मैं सूर्य-कर-निकर-सरिस प्रमाणित ॥

(१२)

'हो जो तुम द्वय-जिह्व वक्र-गति क्यों निज छोड़ो !
कितना ही सम्बन्ध निकट का तुमसे जोड़ो ॥
कुचलें खल को, धर्म—अहिंसा होवे सीमित।
ठीक अरे ! है नीति, 'शठम्-शाठ्यम्' की ही नित ॥

(१३)

'हों जब तुम-से दुष्ट—मंत्रणा देने वाले।
किस नृप को फिर पड़ें—भोगने नहीं कसाले ॥
'नाना जी ! मुझको न, ज़रा भी ग़म है रण का।
दुख है—होगा रक्त, बहाना अपने जन का' ॥

(१४)

उठे झनझना खड्ग, अचानक बिजली चमकी।
शीघ्र हुई पहचान उन्हें उसके खमदम की।।
पट-पट गिरने लगे, खड्ग से उसके कट-कट।
कुछ तो चट-चट जान बचा निज भागे सट-सट।।

(१५)

मँगने ही से भीख, कहाँ मिलता मन चाहा ?
बुद्धि हुई स्थिर, जब कि मचाया बल से 'हा-हा'।।
दे दी जीवन-मूरि, सकल तज कर निज खलता।
'टेढ़ी उँगली किये—बिना घी नहीं निकलता'।।

(१६)

बसन्ततिलका-वृत्त

राकेन्दु पश्चिम-दिशा-तट जा चुके थे।
तारे—निशाचर सभी छिपने लगे वे।।
थी, कालिमा मिट रही तब यामिनी की।
प्राची-दिशा-पटल-रक्तिम हो चला था।।

(१७)

अन्धे उलूक-चमगादड़ हो गये थे।
औ' ज़ोर-शोर तमचोर पुकारते थे।।
पञ्छी-समूह घर-बाहर आ चुका था।
फूलों समीप तितली उड़ नाचती थीं।।

(१८)

था मन्द - शीतल-समीरण लोलता-सा।
खोने लगी सकुचता कलियाँ सभी थीं।।

पौधे समस्त हिलने-मिलने लगे थे।
माथा रहे निज महीरुह भी डुलाते॥

(१९)

थे मोर-वृन्द तब तत्पर नाचने को।
औ' साधने स्वर लगी निज कोकिला भी॥
'माता' समीप पहुँचा 'मणि'-युक्त 'बेटा'।
होने लगी जब अरी! शुचि प्रात-बेला॥

(२०)

रोला

युग-युग-सम क्षण एक-एक था यहाँ बिताया।
धैर्य बँधा कुछ, देख बभ्रुवाहन को आया॥
नाग-सुता झट-झपट-उठी सञ्जीवनि को ले--
विधिवत् दी अविलम्ब, तभी अर्जुन दृग खोले॥

(२१)

निकले थे दिन-नाथ—पूर्व में, हुआ उजाला।
रहा न कुछ भी शेष, मिट गया वह तम काला॥
चिड़ियाँ चहकीं, खिलीं--नलिनि, कोयलिया गायीं।
भौंरे नाचे, फूल खिले, कलियाँ मुसकायीं॥

(२२)

नभ-मण्डल तक गूँज उठा ध्वनि से 'जय-जय' की।
पुलकित सब हो गये, दया देख दयामय की॥
एक ओर था खड़ा, बभ्रुवाहन सकुचाया।
अर्जुन ने झट उसे, लपक कर हृदय लगाया॥

(२३)

'बेटा ! तूने किया, गौरवान्वित है मुझको।
फूला नहीं समाय हृदय मम, पाकर तुझको॥
घाव हुआ अभिमन्यु--मरण का था जो गहरा।
कुछ-कुछ है भर चला; रहा आनँद उर लहरा॥

(२४)

'पाये तुझ-सा पुत्र, पिता मैं वह, बड़भागी।
मातृ-भक्त तू धन्य, कहूँ तव यश नित वागी॥
धन्य जननि, यह भूमि धन्य, धन्य हुआ मैं भी।
तुझ-सा सुत पा और—अधिक गण्य हुआ मैं भी॥

(२५)

कहना क्या तब बभ्रु ? हुआ आनन्द महा था।
गद्‌गद् था, पितु-चरण अश्रु से भिगो रहा था॥
और मातु-हिय-हाल ? बाल पर था बलिहारी।
निज सुत का उत्कर्ष, न हो किसको सुखकारी॥

(२६)

मिले पार्थ तब 'नाग-सुता'-'चित्रा' दोनों से।
मौक्तिक टपके प्रेम-अश्रु के दृग-कोनों से॥
जिनमें थे कुछ प्राण, कर्ण-सुत आदि सभी वे।
सञ्जीवनि से उसी, सचेतन हुये तभी वे॥

(२७)

दोहा

सुरगण नभ थे कर रहे, पुष्प-वृष्टि-सह गान।
देखा सबने—हँस रहे, पार्थ-सखा भगवान॥

(२८)

शार्दूल विक्रीड़ित-वृत्त

'आहा ! भारत-भूमि धन्य तुझको, उत्कर्ष ऐसा जहाँ।
होती धन्य सदैव नारि अहिजा--चित्राङ्गदा-सी तहाँ।।
लेना जन्म पड़े कदापि जगती, तो 'चन्द्र' होवे यहाँ।
होते हैं अभिमन्यु-बभ्रु-सम औ' बेटे जहाँ मे कहाँ'।

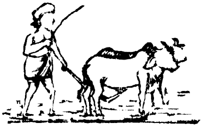

शुभ कामनाएँ

श्री रामनाथ जी 'सुमन', (प्रयाग)—'आप में भावना और कल्पना शक्ति पर्याप्त मात्रा में है। × × × मुझे 'चित्राङ्गदा' अन्य रचनाओं से अच्छी लगी। मुझे आशा है, आगे चल कर आप अपने उद्देश्य में सफल होंगे।'

श्री लक्ष्मीधर जी बाजपेयी (कानपुर)—'आपकी कविता के भाव बहुत ही सुन्दर हैं। एक नवयुवक होनहार कवि में जो प्रतिभा की झलक दिखाई देती है, वह आप में मौजूद है। मैं आपकी रचनाओं के विषय में बहुत अधिक आशावादी हूँ।'

श्री सियाराम शरण जी गुप्त (चिरगाँव)—'आशा है, आप साधना में लगे रहेंगे और आगे चल कर अपने लक्ष्य की ओर जायेंगे। मेरी शुभ कामनाएँ स्वीकार कीजिये।'

श्री प्रभुदयालु अग्निहोत्री शास्त्री, काव्य-तीर्थ, साहित्यरत्न, प्रभाकर—मन्त्री, विदर्भ प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन, (अकोला)—'आप हिन्दी क्षेत्र से इतनी दूर स्थित काव्य की जो मौन साधना कर रहे हैं; वह बड़े गर्व की वस्तु है। काव्य में यत्र-तत्र जो प्रतिभा बिखरी है; वह उज्ज्वल भविष्य की ओर संकेत करती है। मैं आप के फुटकर और कथा काव्य—दोनों को ही अच्छा मानता हूँ। 'चित्राङ्गदा' मुझे विशेष प्रिय लगी। × × × 'चित्राङ्गदा' में भावाभिव्यक्ति अच्छी है।'

श्री शांतिप्रिय जी द्विवेदी, सम्पादक—'वीणा' (इन्दौर)—

'चित्राङ्गदा का भेजा हुआ अंश श्री सम्पादक जी (श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी) ने देखा। उन्हें पसन्द आया। वे चाहते हैं कि इसे पुस्तक रूप में प्रकाशित करवा लिया जावे तो उत्तम रहेगा।'

—श्री चन्द्रशेखर (वीणा कार्यालय)

श्री 'सत्यकाम' साहित्यालङ्कार (गुवाहाटी, आसाम) 'इस गीत के युग में तुमने काव्य लिखा इसके लिये हार्दिक बधाई। पुस्तक पठनीय है।'

श्री 'भारतीय' साहित्यरत्न (वर्धा)—'चीज़ अच्छी लगी। × × पढ़ते समय श्री गुप्त जी व 'हरिऔध' जी की याद आ जाती है।'

श्री अम्बालाल जी नागोरी विद्याभूषण, न्याय तीर्थ, विशारद—'आपका यह साहित्यिक प्रयास भाषा-सौष्ठव, भावाभिव्यंजक शक्ति तथा स्वाभाविकता से सुदृढ़ है। सम्मेलन की परीक्षाओं की ध्येय-पूर्ति में यह कृति भी उपयोगी सिद्ध होगी।'